भाग - 1

व्याख्यान

अर्थशास्त्र का मर्म क्या है?

अमित भादुड़ी

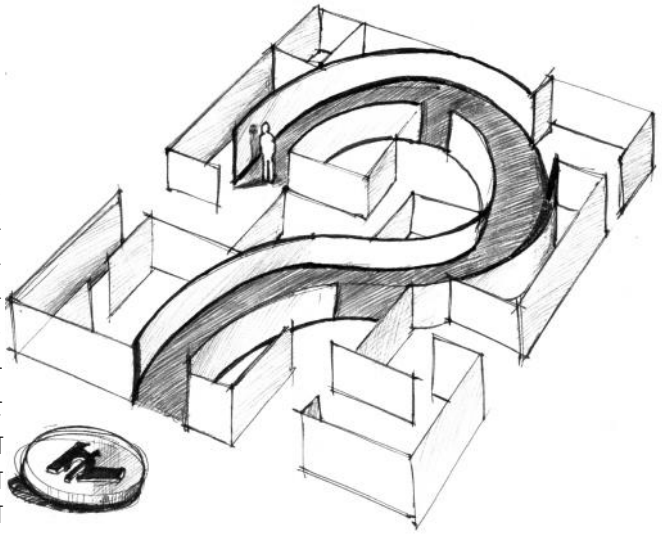

हम क्या चाहते हैं कि अर्थशास्त्र क्या करे? मेरा खयाल है कि हम चाहते हैं कि अर्थशास्त्र इतना करे कि अर्थशास्त्र से रहस्य का आवरण हटा दे! जब मीडिया बताए कि अमुक व्यक्ति एक महान अर्थशास्त्री है और जब वह कहता है कि 6 प्रतिशत बजट घाटा देश के लिए बहुत गम्भीर मुद्दा है, तो हमारी तैयारी होनी चाहिए कि इस पर सवाल उठाएँ। यह उन बकवासों का एक उदाहरण है जिनके बारे में आपके पास यह बौद्धिक हौसला होना चाहिए कि बगैर गहन तर्क या प्रमाण के आप समझ सकें कि यह बकवास है। एक मशहूर अर्थशास्त्री ने कहा था कि अर्थशास्त्र एक महत्वपूर्ण विषय है; उसके कारण नहीं जो इसके अन्तर्गत पढ़ाया जाता है बल्कि इसलिए कि यह आपको अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा उल्लू बनाए जाने से बचाता है। लगभग हर बार जब आप टीवी चालू करते हैं और बजट पण्डितों को शेयर की कीमतों में वृद्धि के बारे में बातें करते सुनते हैं, जिसका मतलब यह बताया जाता है कि "भारत की आर्थिक सेहत कहीं बेहतर है", या "भारत की विकास दर 8 प्रतिशत है" और इस कारण "हमारी आर्थिक स्थिति अद्भुत है", या "उच्च विकास दर के चलते गरीबी की समस्या जल्दी ही सुलझ जाएगी" – तो आपको पता होना चाहिए कि झाँसा (प्रायः

किसी मकसद से प्रेरित झाँसा) कहाँ छिपा है। शेयर की कीमतें रोज़ बदलती हैं, अक्सर काफी बदलती हैं, मगर वास्तविक अर्थ व्यवस्था काफी धीमी गति से बदलती है और कई बार तो उलटी दिशा में बदलती है। दो दशकों की उच्च विकास दर के बावजूद आपको अपने आसपास गरीबों की बड़ी तादाद नज़र आती है; व्यापक कुपोषण, भीख माँगते बच्चे, हताशा में खुदकुशी करते किसान नज़र आते हैं। आप जो कुछ देखते हैं, उस पर भरोसा रखना होगा। वास्तविक जीवन के अनुभवों को ध्यान में रखना होगा। यह समझना होगा कि जो कुछ आप देख रहे हैं वही सामान्य हालात का आईना है, न कि वह जो कोई अर्थशास्त्री या सांख्यिकीविद् या पाठ्य पुस्तक कहती है। यह पहला कारण है कि क्यों हम सबके लिए, साधारण नागरिक होने के नाते भी, अर्थशास्त्र से थोड़ा सम्पर्क ज़रूरी है। इससे हम सवालिया नागरिक बनते हैं जो प्रजातंत्र को तन्दुरुस्त रखते हैं।

मैं कोशिश करता हूँ आम लोगों से बात करने की, और ऐसी किताबें लिखने की जिनको पढ़ने के लिए ज़्यादा अर्थशास्त्र की ज़रूरत नहीं होती; यहाँ तक कि यदि हम उनकी सहजबुद्धि पर यकीन करें तो बिलकुल भी अर्थशास्त्र की ज़रूरत नहीं होती। यह हमारा दायित्व है कि विभिन्न स्तरों पर अर्थशास्त्र को रहस्यों के आवरण से मुक्त करें। यह जानें कि बजट घर को सम्भालने से ज़्यादा कुछ नहीं है, और दोनों के बीच वास्तविक अन्तर यह है कि बजट में कहीं ज़्यादा लचीलापन होता है। सरकार रिज़र्व बैंक से उधार लेकर पैसा पैदा कर सकती है, जिसे घाटे की वित्त व्यवस्था कहते हैं। या सरकार टैक्स लगा सकती है। कोई गृहिणी या परिवार ऐसा नहीं कर सकता, जब तक कि उसके पास ओवरड्राफ्ट की कोई सुविधा न हो। यह एक चीज़ है जो सरकारी बजट या सार्वजनिक वित्त को घर सम्भालने से अलग बनाती है।

मगर आजकल के मुख्यधारा के अर्थशास्त्रियों ने इस फर्क को लगभग समाप्त कर दिया है, क्योंकि वे चाहते हैं कि जहाँ तक सम्भव हो राज्य की अपनी आर्थिक भूमिका कम-से-कम होनी चाहिए। इसलिए यह कहना बड़ी समझदारी की बात हो गई है कि सरकार को बहुत ज़्यादा खर्च नहीं करना चाहिए; सरकारी खर्च की एक सीमा है। मगर जब तक लोगों का भरोसा सरकार में है, तब तक यह मुमकिन क्यों नहीं है कि अपने नागरिकों की मदद के लिए सरकार खर्च करती जाए और उधार लेकर अपने कर्ज़ का ब्याज चुकाती रहे?

मुद्दा यह नहीं है कि सरकार कितना खर्च करे, बल्कि यह है कि क्या उसका खर्च सामान्य लोगों के लिए उपयोगी है। हमें कॉमनवेल्थ खेल, कोयला या स्पेक्ट्रम आवंटन घोटालों जैसे बरबादीपूर्ण खर्चों का विरोध करना

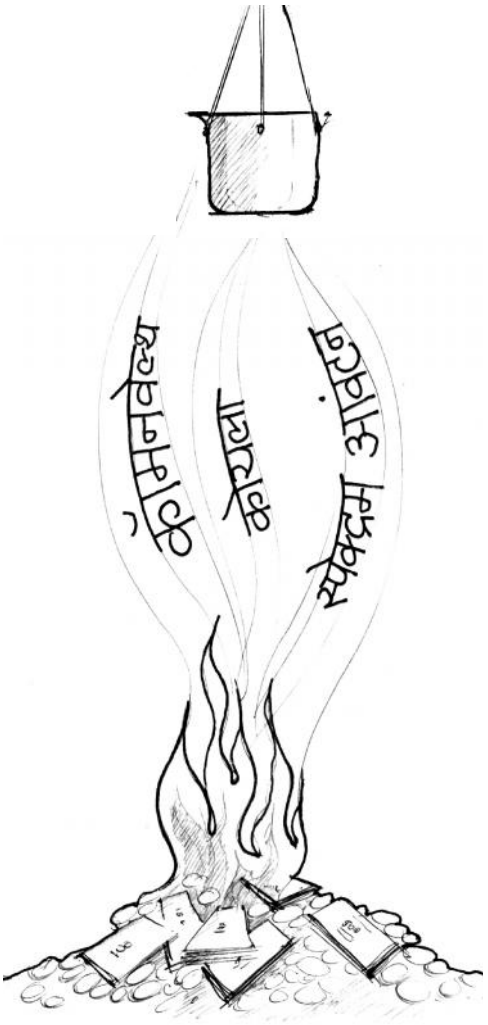

चाहिए जो बड़े निजी उद्योगों की मदद करते हैं और सरकार का बजट कम कर देते हैं। मगर गरीब नागरिकों के लिए स्वास्थ्य बीमा या शिक्षा पर खर्च में कटौती करने का कोई कारण नहीं है क्योंकि यदि इसे सफलतापूर्वक किया जाए, तो इससे सरकार की साख बढ़ेगी और वह ज़्यादा कर्ज़ का निर्वाह कर पाएगी। इसकी बजाय 'वित्तीय अनुशासन' के नाम पर सार्वजनिक वित्त को घर सम्भालने जैसा बना दिया गया है। इसका मतलब यह होता जा रहा है कि भारत के रईसों की मदद के लिए गरीबों को अनुशासित करो।

अर्थशास्त्रियों के नाते हमारी कोशिश होनी चाहिए कि इस बात पर बहस और विचार-विमर्श हो कि सरकार कहाँ खर्च करे और क्यों। बात की शुरुआत पहले से यह तय करके नहीं होनी चाहिए कि वह कितना खर्च करे। फिर भी, आप टीवी चालू कीजिए और देखेंगे कि एक ऐसी गूढ़ शब्दावली में बातचीत हो रही है जिसे हम नहीं समझते; अधिकांश समय तो वे जो बातें कर रहे होते हैं वह एक ऐसे कोहरे की तरह होती हैं जो वास्तविक मुद्दों को ओझल कर देता है। आप कभी-कभार ही यह सुनेंगे कि क्यों उच्च विकास दर के बावजूद रोज़गार निर्माण इतना कम हुआ है, और क्या रोज़गार गारंटी योजनाओं का ग्राम-सभा स्तर तक विकेन्द्रीकरण करके बेहतर परिणाम मिल सकते हैं। रोज़-ब-रोज़ सैकड़ों करोड़ के घोटालों के चलते राजनैतिक दल क्यों एक स्वतंत्र केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो के ज़रिए खुद के वित्तीय अनुशासन को लेकर हीला-हवाला करते हैं? तो पहली चीज़ है: यह ज़रूरी है कि हम खुले दिमाग वाले आत्मविश्वासी नागरिक बनें। इस

बात से कोई फर्क नहीं पड़ता कि आपका राजनैतिक झुकाव बाईं ओर है या दाईं ओर। फर्क तो इस बात से पड़ता है कि एक खुला दिमाग हो जिसके पास रहस्य का आवरण हटाने और अपने अनुभवों के परिप्रेक्ष्य में आर्थिक समस्याओं की हकीकत को देखने का विश्वास हो। मगर अनुभव विचारधारा में से छनकर आते हैं।

यह जानना ज़रूरी है कि *कहाँ अर्थशास्त्र और विचारधारा आपस में घुल-मिल जाते हैं।* समस्त सामाजिक विज्ञानों का लक्ष्य व्यक्ति को खुद की विचारधारा की बुनियाद के प्रति सचेत करना है। आपके पास ऐसी कोई चीज़ तो हो नहीं सकती जो पूरी तरह निष्पक्ष या तकनीकी हो, इसलिए आपके पास यह बौद्धिक ईमानदारी होनी चाहिए कि आप जान सकें कि कहाँ आप अपनी विचारधारा को प्रविष्ट करा रहे हैं। और इसका सबसे पहला परीक्षण है संख्याओं की समझ। मेरा आशय नफीस सांख्यिकी से या आर्थिक मापन विज्ञान (इकॉनॉमेट्रिक्स) से नहीं है। दरअसल, अधिकांश समय भारतीय आँकड़े ज़्यादा उपयोगी नहीं होते, सिवाय पर्चे प्रकाशित करने और प्रोफेसर का पद पाने के लिए! हकीकत में, अर्थशास्त्र में प्रयुक्त अधिकांश गणित से आपकी कुशलता ही ज़्यादा झलकती है; इसका किसी नई सूझबूझ या बेहतर समझ में कोई योगदान नहीं होता।

मैं बौद्धिक दृष्टि से ईमानदारी बरतना चाहूँगा और कहूँगा कि गणित चीज़ों को कहीं अधिक पैनेपन से प्रस्तुत कर सकता है। यह आपको कोई नई चीज़ नहीं देगा मगर गैर-सटीक सोच के जालों को ज़रूर हटा सकता है। गणित आपको ऐसी कोई बात नहीं बताता जिसे आप शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकते; गणित जो कहता है वह बात वही होती है मगर कहीं ज़्यादा सटीक रूप में। और सटीकता के चलते मान्यताओं के बीच और उनके आधार पर निकले तार्किक निष्कर्षों के बीच अन्तरों को ज़्यादा स्पष्टता से देखा जा सकता है। अलबत्ता, लफ्फाज़ी की तुलना में तार्किक सोच सब लोगों के लिए एक जैसी ही होती है। लिहाज़ा, मान्यताओं और उनकी प्रासंगिकता के बारे में बहस करना मददगार होता है।[1] मगर कुछ मामलों में गणित आपको झाँसे देना भी सिखाता है! इस पर मैं बाद में बात करूँगा।

अनुभव, विचारधारा और संख्याओं की पेचीदा अन्तर्क्रिया के ज़रिए ही हमें अर्थशास्त्रीय तर्क को आगे बढ़ाना

[1] *तार्किक प्रमाणवाद का इन्तहाई दार्शनिक मत हमें यह मनवाने की कोशिश करता है कि मान्यताओं का यथार्थवादी होना अप्रासंगिक है और दरअसल निष्कर्षों की जाँच करके मामला सुलझाया जा सकता है। अलबत्ता, अर्थशास्त्र जैसे विषय में ऐसी जाँच अस्पष्ट होती है क्योंकि इसमें तुलनाशुदा (controlled) प्रयोग नहीं हो सकते और यह भी नहीं कहा जा सकता कि एक जैसे निष्कर्ष मान्यताओं के एक ही समूह से उभरते हैं।*

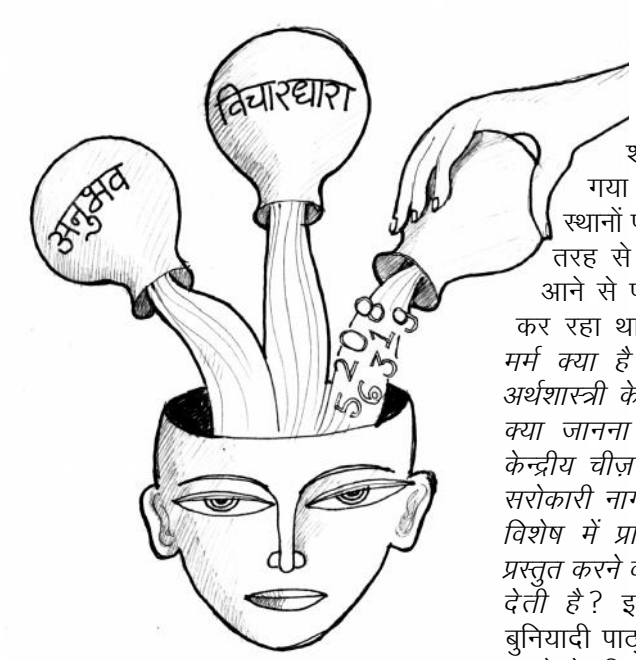

होता है। यह वास्तव में सहजबुद्धि निचोड़ ही है। जब यह हमारी पूर्व-कल्पित सहजबुद्धि (यानी '*अन्तर्दृष्टि से प्राप्त ज्ञान*') से मेल नहीं खाता तो हमें पूछना चाहिए कि क्यों। अर्थशास्त्र में प्रशिक्षण का यह अपेक्षाकृत जटिल कार्य है। शायद यही शुरुआत है एक प्रासंगिक अर्थशास्त्रीय सिद्धान्तकार होने की।

अर्थशास्त्र का मर्म

अर्थशास्त्र की विधियों पर कुछ सामान्य बातें प्रस्तुत करने की बजाय मुझे वह बताने की इजाज़त दीजिए जो मेरे अनुसार अर्थशास्त्र का मर्म है। मैं दुनिया भर के अलग-अलग विश्व-विद्यालयों में, अध्यापन व अनुसन्धान के विभिन्न पदों पर इस खेल में शामिल रहा हूँ और जान गया हूँ कि कैसे अलग-अलग स्थानों पर 'मर्म' को अलग-अलग तरह से देखा जाता है। मैं यहाँ आने से पहले सोचने की कोशिश कर रहा था: *अर्थशास्त्र का असली मर्म क्या है? आदर्श रूप में एक अर्थशास्त्री के नाते किसी व्यक्ति को क्या जानना चाहिए? वह कौन-सी केन्द्रीय चीज़ है जो एक बुद्धिमान व सरोकारी नागरिक को किसी सन्दर्भ-विशेष में प्रासंगिक आर्थिक सवाल प्रस्तुत करने व उठाने का आत्मविश्वास देती है?* इसके बाद हमारे पास बुनियादी पाठ्य पुस्तकों का मूल्यांकन करने के लिए कुछ कसौटियाँ होंगी।

पारम्परिक वर्गीकरण के मुताबिक अर्थशास्त्र के तीन बुनियादी क्षेत्र हैं। पहला क्षेत्र है सूक्ष्म अर्थशास्त्र (माइक्रोइकॉनॉमिक्स)। दूसरा क्षेत्र है स्थूल अर्थशास्त्र (मैक्रोइकॉनॉमिक्स)। और तीसरा क्षेत्र है इसे हमारे अपने सन्दर्भ यानी भारतीय अर्थ व्यवस्था में लागू करने का। इसमें भारत का उदाहरण लेकर उपलब्ध जानकारी और सिद्धान्त के आधार पर अपनी अर्थशास्त्रीय समझ को लागू करना होता है। सूक्ष्म, स्थूल एवं भारतीय अर्थशास्त्र और साथ में गुणात्मक व मात्रात्मक सूचनाओं के विश्लेषण की थोड़ी समझ ही पारम्परिक रूप से इस

विषय – अर्थशास्त्र नामक अकादमिक विषय – की केन्द्रीय विषयवस्तु मानी जाती है। तो इसी से शुरू करते हैं।

सूक्ष्म अर्थशास्त्रः चयन की समस्या

सूक्ष्म अर्थशास्त्र को देखें, तो इसके दो तत्व हैं। ये काफी उपयोगी हो सकते हैं; इनका दुरुपयोग भी हो सकता है। ऐसी दो चीज़ें हैं जो आपको, उदाहरण के लिए, हाई स्कूल या कॉलेज के प्रथम वर्ष के अर्थशास्त्र में जाननी चाहिए। पहला तत्व है इस बात का थोड़ा अन्दाज़ होना कि चुनाव, व्यक्तिगत स्तर के चुनाव पर अर्थशास्त्र में कैसे विचार किया जाता है। जो चीज़ जाननी चाहिए, वह सचमुच बहुत सरल है – चुनाव के सिद्धान्त का मोटा-मोटा विचार। *चुनाव सटीक ज्ञान के आधार पर नहीं बल्कि 'गैर-सटीक' ज्ञान के आधार पर किया जाता है।*

तो इसको कैसे प्रस्तुत करें? इसके प्रस्तुतीकरण का एक तरीका, उदाहरण के लिए, यह है: 2, 3, 5: जहाँ 2 और 3 में 1 का अन्तर है जबकि 3 और 5 के बीच 2 का अन्तर है। आप इस अन्तर का सही मान जानते हैं क्योंकि ये 'कार्डिनल (मात्रासूचक) संख्याएँ' हैं। अर्थात् संख्या-पैमाने पर 3 और 5 के बीच ज़्यादा फासला है बनिस्बत 2 और 3 के बीच फासले के। तो, जब आपको न सिर्फ यह पता है कि कोई चीज़ किसी अन्य चीज़ से बड़ी है बल्कि यह भी कि अन्तर कितना है – अन्तर के परिमाण का मात्रात्मक मापन – तो इसे आप *कार्डिनल* (मात्रासूचक) मापन कहते हैं। और आप कह सकते हैं कि मैं 3 की अपेक्षा 5 को तरजीह देता हूँ, और मैं यह भी जानता हूँ कि मैं इसे कितनी अधिक तरजीह देता हूँ।

अलबत्ता अधिकांश मामलों में हमें यह बात एकदम सटीक रूप से पता नहीं होती। जैसे, हो सकता है कि मैं केलों से ज़्यादा सेब पसन्द करता हूँ मगर पता नहीं कितना ज़्यादा। इसे हम कहते हैं कि यह *ऑर्डिनल* (क्रमसूचक) तरजीह है। अर्थात् आपको 'सिर्फ' यह क्रम पता है कि कौन किससे ज़्यादा है। कभी-कभी आप इनकी कल्पना 'धुँधली' संख्याओं के रूप में कर सकते हैं – ये किसी ऐसी

रेखा पर स्थित हैं जहाँ दो 'बिन्दुओं' के बीच का फासला सुपरिभाषित नहीं है। सरल शब्दों में, क्रमसूचक मापन में से, जहाँ सिर्फ कम-ज़्यादा की तुलनात्मक स्थितियाँ दर्शाई जाती हैं और उसमें सटीकता नहीं होती (यानी कितना अन्तर है यह नहीं होता), पाठ्य पुस्तकों का प्रिय *इनडिफरेंस* (अनधिमान) वक्र निकलता है। अलबत्ता, छात्रों को टैंजेंसी कंडीशन्स (स्पर्शरेखिता प्रतिबन्धों) तथा प्रतिस्थापन की सीमान्त दर जैसी चीज़ों की बारीकियों में जाने की ज़रूरत नहीं है। उनसे बोरियत पैदा होती है, बस। मगर यह विचार उपयोगी है कि गैर-सटीक ज्ञान से भी चयन का एक किस्म का तर्क बनता है। क्योंकि *वास्तविक जीवन के कई चुनाव गैर-सटीक ज्ञान के आधार पर किए जाते हैं*। अपने रोज़मर्रा के जीवन के बारे में सोचिए। कोई भी बीमा कम्पनी 40 वर्षीय और 60 वर्षीय लोगों का बीमा करती है। वे 60 वर्षीय लोगों से ज़्यादा प्रीमियम राशि की माँग करते हैं। क्यों? वे कहेंगे कि एक 60 वर्षीय व्यक्ति के बीमार पड़ने व मृत्यु की सम्भावना ज़्यादा होती है, इसलिए उसका प्रीमियम ज़्यादा होगा। यह कोई सटीक ज्ञान नहीं है। यह एक किस्म का गैर-सटीक ज्ञान है: यह *सम्भाविता-आधारित* गैर-सटीक ज्ञान है। सेब बनाम केले के उदाहरण में तो सेब आपकी वरीयता सूची में ऊपर हो सकता है, मगर उसके विपरीत यह एक सम्भाविता-आधारित उदाहरण है जहाँ जोखिम सम्बन्धी गणित ऐसे मात्रासूचक मापन सम्भव बना देता है जो अवलोकनों की एक बड़ी संख्या से सम्बन्धित होते हैं।

शिक्षक विभिन्न किस्म के गैर-सटीक ज्ञान पर समय लगा सकते हैं, बजाय इसके कि वे इस बात पर ढेर सारा समय ज़ाया करें कि वरीयताएँ कैसे तय की जाती हैं और कैसे इंडिफरेंस वक्र द्वारा प्रदर्शित क्रमसूचक माप को अधिकतम मात्रात्मक मूल्य देने के लिए टैंजेंसी प्रतिबन्धों को हासिल किया जाता है। एक बार स्कूल से निकलने के बाद छात्रों को इंडिफरेंस वक्रों की ज़रूरत कभी नहीं पड़ेगी। वास्तव में आपको मात्र यह जानने की ज़रूरत है कि गैर-सटीक ज्ञान के प्रकारों और सटीक ज्ञान के बीच क्या अन्तर होता है (गणितीय रुझान वाले लोगों के लिए यह अन्तर उसी प्रकार का है

जैसा रैखीय और गैर-रैखीय समीकरणों के बीच होता है)। और इस बात को दो तरह से शामिल किया जा सकता है: एक तो वहाँ जब आप सेब और केले अथवा तानाशाही और प्रजातंत्र के बीच चुनाव की बात करते हैं, और दूसरा वहाँ जहाँ बात सम्भाविता-आधारित ज्ञान की है। पहले तरीके में आपके पास जो आधार है वह मात्र निजी पसन्द-नापसन्द का है; दूसरे मामले में आपके पास असंख्य अवलोकनों का आधार है (जैसे 40 वर्षीय और 60 वर्षीय के बीच अन्तर)।

फर्म के सिद्धान्त में, वे सारे सन्दिग्ध विकल्प जिनकी किसी को ज़रूरत नहीं होगी – U-आकृति के लागत ग्राफ, सीमान्त लागत और सीमान्त आमदनी के बीच बराबरी वगैरह – पढ़ाने की बजाय, मेरे खयाल में मात्र इतना जानने की ज़रूरत है कि जब कोई फर्म कोई विकल्प चुनती है, तो चुनाव कुछ हद तक इसी तरह से किया जाता है। वे एकदम सटीकता से मुनाफे को अधिकतम नहीं कर सकते क्योंकि उन्हें विभिन्न किस्म की जानकारियों के साथ काम करना होता है। कुछ ज्ञान सटीक तो कुछ गैर-सटीक होता है – कम्प्यूटर की भाषा में हम इन्हें 'हार्ड' (कठोर) और 'सॉफ्ट' (नर्म) जानकारी कह सकते हैं।

किसी फर्म के बारे में सोचिए। यदि आप एक व्यापारी हैं, तो आपको अपनी फर्म के बारे में कुछ जानकारी तो होगी, जैसे आपकी लागत क्या

होगी। आपका अपना लेखाकार आपको बता देगा कि दी गई परिस्थितियों में उत्पादन की लागत क्या होगी। यह अपेक्षाकृत 'हार्ड' जानकारी है। आपके पास कुछ कम सटीक ज्ञान भी होगा। आप अपना उत्पाद बेचना चाहते हैं मगर यह नहीं जानते कि कितना बेच पाएँगे, खासकर यदि यह कोई नई वस्तु है। यह 'सॉफ्ट' जानकारी है। हार्ड और सॉफ्ट जानकारी के बीच अन्तर सापेक्ष है। इससे एक बार फिर चुनाव करते समय विभिन्न *प्रकार* की जानकारी के बीच भेद करने (*अनुक्रमण*) का महत्व उजागर होता है।

मान लीजिए आप एक व्यापारी हैं, तो आप लागत के बारे में हार्ड जानकारी का उपयोग अधिक-से-अधिक करेंगे क्योंकि यह ज़्यादा विश्वसनीय है। आप सॉफ्ट जानकारी का भी उपयोग करेंगे मगर कोशिश करेंगे कि इस पर कम भरोसा करें। वास्तविक जीवन में हम सॉफ्ट ज्ञान, यानी सम्भाविता-आधारित सॉफ्ट ज्ञान का उपयोग करते हैं। जैसे कार खरीदने वालों के एक विशिष्ट समूह के लिए कार का नया मॉडल डिज़ाइन करते समय यह ज्ञान काम आता है कि 70-80 वर्ष की उम्र वाले लोगों की अपेक्षा उम्र के चौथे दशक वाले लोगों का ज़्यादा बड़ा प्रतिशत अन्धाधुन्ध ड्राइविंग करते हुए मौत का शिकार होता है।[2] मार्केटिंग की योजनाएँ प्रायः ऐसी जानकारी के आधार पर बनाई जाती हैं।

अलबत्ता, कोई भी फर्म अपनी कीमतें अक्सर लागत के आधार पर तय करती है। यदि लागत बढ़ती है तो वह कीमत बढ़ा देगी क्योंकि यह हार्ड जानकारी है। जब पेट्रोल की लागत बढ़ेगी तो वह अपनी कीमत बढ़ा देगी क्योंकि माल ढुलाई करने वाले सारे व्यापारियों के लिए यह हार्ड जानकारी है। व्यापारी के पास नए उत्पाद, जैसे कार का नया मॉडल वगैरह, के बारे में अक्सर सॉफ्ट जानकारी होती है। तो या तो वह मार्केट अनुसन्धान करके अपने उत्पाद की माँग के बारे में अपनी जानकारी को अधिक हार्ड बनाने की कोशिश करेगा या जानकारी के बगैर जोखिम उठाएगा।

फर्म के सन्दर्भ में लागत, खासकर औसत लागत की जानकारी आम तौर पर ज़्यादा विश्वसनीय (ज़्यादा हार्ड) होती है। लिहाज़ा, *फर्में लागत-आधारित कीमत निर्धारण करती हैं जिसमें लागत पर कुछ अतिरिक्त जोड़ दिया जाता है*। औसत लागत की बात करते हुए औसत पूर्ण लागत और औसत परिवर्ती लागत के बीच भेद करना उपयोगी होगा। फर्में कीमतों का निर्धारण प्रायः औसत परिवर्ती लागत के आधार पर करती हैं; यहाँ औसत परिवर्ती लागत पर अतिरिक्त मूल्य जोड़कर कीमत निर्धारण में मूल्यह्रास और मुनाफे को ध्यान में रखा जाता है। निर्माण (manu-

[2] *जानकारी को हार्ड या सॉफ्ट के रूप में वर्गीकृत करना सन्दर्भ से परे नहीं है। जैसे जानलेवा कार दुर्घटनाओं में या युद्ध की स्थिति में लोगों के मरने की सम्भाविता ज़्यादा होती है।*

facturing) कारोबार में इनका निर्धारण अनुभव के आधार पर काफी भरोसेमन्द ढंग से किया जाता है। दूसरी ओर, आपको ऐसा व्यापारी बमुश्किल मिलेगा जिसे यह पता हो कि उसकी सीमान्त लागत और आमदनी क्या है।

वास्तव में, एक स्तर पर सूक्ष्म अर्थशास्त्र में चयन के सिद्धान्त में इतना ही पढ़ाने की ज़रूरत है, जिसे सूक्ष्म अर्थशास्त्र का कोर माना जाता है। यदि आप किसी फर्म – साबुन बनाने से लेकर कार बनाने वाली फर्म – के निदेशक को जानते हैं, तो आप उनसे पूछ सकते हैं कि वे कीमतें कैसे तय करते हैं। वे लागत को देखते हैं। वे कहेंगे कि यह मेरी इकाई लागत है – जैसे साबुन की एक टिकिया बनाने की लागत – और मैं इस पर 20 प्रतिशत सीमान्त आमदनी जोड़ता हूँ और कीमत तय कर देता हूँ। इसे कहते हैं लागत-आधारित कीमत निर्धारण। मैं यहाँ किस चीज़ का इस्तेमाल कर रहा हूँ? मैं लागत का इस्तेमाल कर रहा हूँ जो पूर्णतः हार्ड जानकारी है। मैं कह रहा हूँ कि मैं इसका उपयोग कीमत निर्धारण में करना चाहता हूँ, और तब अतिरिक्त 20 प्रतिशत सॉफ्ट जानकारी है। यदि मैं इतने पर बेच पाया तो इसे 30 प्रतिशत कर दूँगा। टाटा अपनी नैनो एक लाख में बेचेंगे। यदि वे पर्याप्त कारें बेच पाए, तो अगले दो सालों में कीमत बढ़ाई जा सकती है। वे यह देखेंगे कि एक आज़माइशी सीमान्त आमदनी पर कितनी कारें बेच सकते हैं, अर्थात् वे माँग के बारे में सॉफ्ट जानकारी की पड़ताल कर रहे हैं।

आप बाज़ार की पड़ताल इसलिए नहीं करते हैं कि 'सही' कीमत पता कर सकें या ऐसी कीमत पता कर सकें जो मुनाफे को अधिकतम करने के लिहाज़ से यथेष्ट है, बल्कि इसलिए करते हैं ताकि अपने मुनाफे के लिए 'सन्तोषजनक' कीमत (satisfysing price) पता कर सकें (यह इस तरह के कीमत निर्धारण के लिए तकनीकी शब्द है)। यदि आपको लगता है कि 20 प्रतिशत बहुत ज़्यादा है, तो आप उसे कम कर देंगे। दरअसल यह लागत-आधारित कीमत तय करने का तरीका है। आप अपनी कीमत को हार्ड और सॉफ्ट जानकारी में विभाजित कर देते हैं।

ये यथार्थ जीवन के उदाहरण हैं (यह एक उम्दा विचार होगा कि छात्रों से कहा जाए कि वे एक प्रोजेक्ट करके यह देखें कि क्या यह बात स्थानीय दुकानों पर लागू होती है)। वे कीमत का निर्धारण माँग और आपूर्ति के वक्र प्रतिबन्धों के आधार पर तय नहीं करते। और बाज़ार का सन्तुलन, सीमान्त आमदनी और सीमान्त लागत – वे सब बातें जो हम विस्तार में पढ़ाते हैं – और मुनाफे को अधिकतम बनाना, ये सब मिथ्या सटीकताएँ हैं। इनमें गणित का उपयोग वास्तविक दुनिया के विवरण के लिए नहीं होता। किसे पता है कि माँग का वक्र क्या होता

है? सीमान्त आमदनी क्या है? साबुन की एक अतिरिक्त टिकिया की सीमान्त आमदनी क्या है? क्या आप बता सकते हैं? यदि कोई छात्र पूछेः मैडम, आप क्या पढ़ा रही हैं, क्या आप कुछ उदाहरण दे सकती हैं? तो आप एक और रेखाचित्र खींचने या थोड़ा और केल्कुलस समझाने के अलावा क्या करेंगी?

यदि आप उच्च स्तर पर पढ़ाए जाने वाले अधिकांश कोर अर्थशास्त्र को देखें, तो भारी-भरकम गणित कहाँ से आता है? यह गणित यह कहकर आता है कि आप मुनाफा अधिकतम करते हैंः किसी समय पर आप इस तरह से अधिकतम बनाते हैं, किसी अन्य समय पर आप उस तरह से अधिकतम बनाते हैं, और समय के किसी एक बिन्दु पर या समय के एक अन्तराल में अधिकतम करने की परिस्थितियाँ ये हैं जिनके आधार पर आप, बहुत हुआ तो, वास्तविक दुनिया के बारे में निष्कर्ष निकालने की कोशिश करते हैं। मगर यह सब ज़्यादातर यह साबित करने के लिए होता है कि आप ज़रूरी हुनर से लैस एक पेशेवर अर्थशास्त्री हैं। वास्तविक जीवन में यह भ्रामक हो सकता है क्योंकि अनजाने में आप मानकर चल रहे हैं कि हार्ड जानकारी सचमुच उपलब्ध है।

इस तरह अधिकतम बनाने का तरीका समझाने की बजाय छात्र के लिए यह जानना ज़्यादा ज़रूरी है कि जानकारी परिशुद्ध या अपरिशुद्ध नहीं होती, हार्ड या सॉफ्ट नहीं होती, बल्कि यह तो एक रणनीतिक चर है। जैसे कम्प्यूटर या सेकण्ड हैंड कार के विक्रेता को खरीददार की अपेक्षा ज़्यादा जानकारी होगी कि वह क्या बेच रहा है (असममित जानकारी)। मगर यह उतना महत्वपूर्ण उदाहरण नहीं जितना यह है कि प्रजातांत्रिक सरकारें रक्षा उपकरण खरीदते समय या कोयले अथवा लौह खदानों का आवंटन करते समय जानकारी दबाती हैं। *रणनीतिक जानकारी अर्थशास्त्र में सत्ता की धारणा को उजागर कर देती है*, जिसकी चर्चा कभी-कभार ही की जाती है (सूचना का अधिकार और कुछ 'घोटाले' अच्छे प्रोजेक्ट हो सकते हैं जिनकी मदद से छात्र यह देख पाएँगे कि जानकारी कैसे एक रणनीतिक चर बन जाती है)।

सूक्ष्म अर्थशास्त्र में एक और चीज़ है जो उपयोगी हैः तथाकथित आमदनी प्रभाव और प्रतिस्थापन प्रभाव के बीच अन्तर। उदाहरण के लिए, भारत में आजकल की मूल्य वृद्धि को लीजिए। आपके खयाल से मूल्य वृद्धि का क्या असर होता है? मूल्य वृद्धि क्यों हो रही है, वह अलग सवाल है, मगर इसका असर क्या होता है? इसके विश्लेषण का एक तरीका यह है कि हम पूछें कि जब भी मूल्य वृद्धि होती है, खासकर किसी ज़रूरी वस्तु (जैसे खाद्यान्न) की कीमतें बढ़ती हैं, तो इससे क्या होता है? इसके दो असर होते हैंः यदि आपकी आमदनी स्थिर

है (जैसे वेतन, पेंशन वगैरह), तो आपकी वास्तविक आमदनी घट जाती है। और स्वाभाविक रूप से कुछ खाद्य वस्तुओं के दाम अन्य की तुलना में ज़्यादा बढ़ते हैं और अपनी सीमित आमदनी के चलते आप सस्ते विकल्प खरीदने लगते हैं। अर्थशास्त्री इसके बारे में इस तरह सोचते हैं कि इससे आपके झोले में बदलाव आता है। उदाहरण के लिए, आप वे सब्ज़ियाँ कम खरीदेंगे जिनकी कीमतें अपेक्षाकृत ज़्यादा बढ़ी हैं। साथ ही, वे सब्ज़ियाँ जिनकी कीमतें कम बढ़ी हैं, आप उनके पक्ष में प्रतिस्थापन करेंगे (*प्रतिस्थापन प्रभाव*)। सस्ती वस्तुओं के पक्ष में प्रत्यक्ष प्रतिस्थापन होता है। दूसरा प्रभाव यह होता है कि आपकी वास्तविक आमदनी कम हो जाती है। लिहाज़ा, आप हर चीज़ की खपत कम करेंगे (*आमदनी प्रभाव*)। इस तरह से आपको किसी एक खरीददार या उपभोक्ता पर मूल्य वृद्धि के असर को व्यवस्थित रूप से देखने में वास्तविक मदद मिलती है। जो लोग सबसे नीचे हैं, उपभोक्ताओं में से सबसे गरीब हैं, उनके

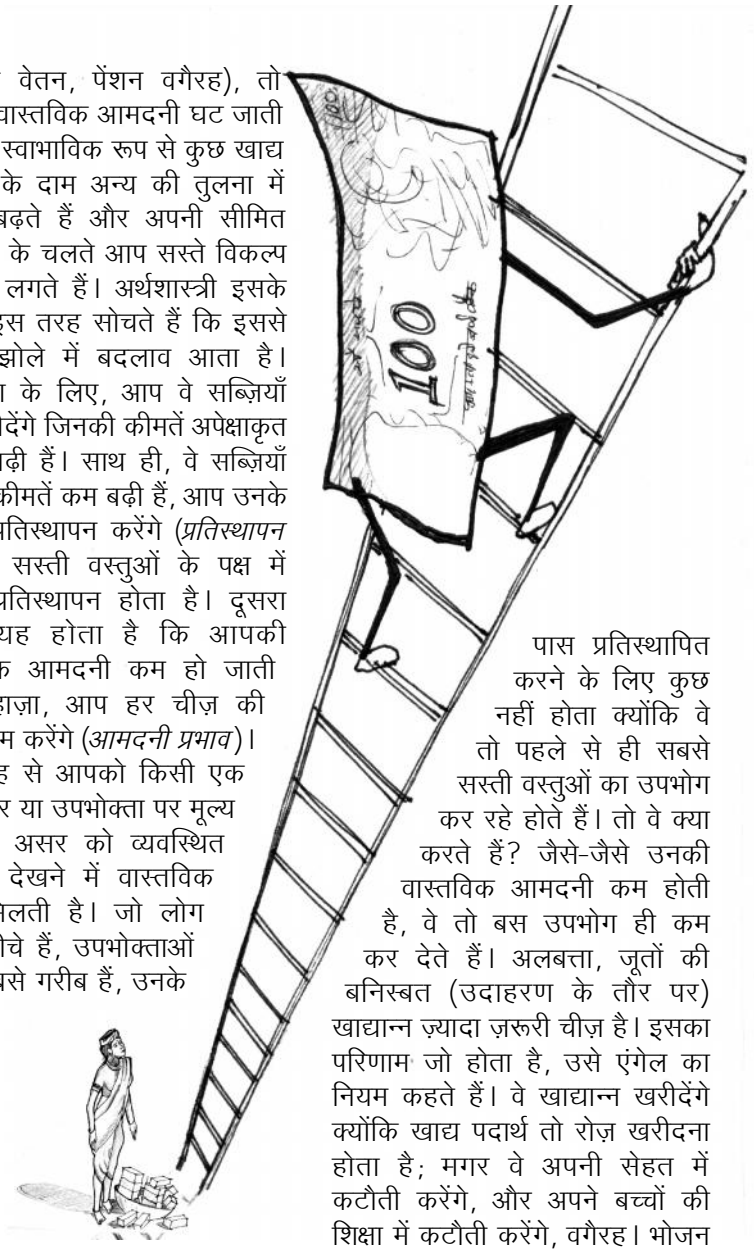

पास प्रतिस्थापित करने के लिए कुछ नहीं होता क्योंकि वे तो पहले से ही सबसे सस्ती वस्तुओं का उपभोग कर रहे होते हैं। तो वे क्या करते हैं? जैसे-जैसे उनकी वास्तविक आमदनी कम होती है, वे तो बस उपभोग ही कम कर देते हैं। अलबत्ता, जूतों की बनिस्बत (उदाहरण के तौर पर) खाद्यान्न ज़्यादा ज़रूरी चीज़ है। इसका परिणाम जो होता है, उसे एंगेल का नियम कहते हैं। वे खाद्यान्न खरीदेंगे क्योंकि खाद्य पदार्थ तो रोज़ खरीदना होता है; मगर वे अपनी सेहत में कटौती करेंगे, और अपने बच्चों की शिक्षा में कटौती करेंगे, वगैरह। भोजन

पर खर्च होने वाले बजट का हिस्सा बढ़ जाएगा। यह इस बात के विश्लेषण की अच्छी शुरुआत हो सकती है कि विभिन्न आमदनी समूहों – सबसे गरीब, गरीब, मध्य वर्ग और सम्पन्न वर्ग – पर खाद्यान्न की कीमतें बढ़ने के क्या असर होते हैं (आसपास की बस्ती में विभिन्न आय समूहों द्वारा अलग-अलग वस्तुओं पर किए गए खर्च के अनुपात का बजट अध्ययन अच्छा प्रोजेक्ट हो सकता है।)।

अगले अंक में हम दूसरे हिस्से, यानी स्थूल अर्थशास्त्र की बात करेंगे।

(...जारी)

अमित भादुड़ी: कलकत्ता और केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से अर्थशास्त्र में डिग्री प्राप्त करने के बाद केम्ब्रिज विश्वविद्यालय से पीएच.डी. की। सन् 1966 में इसी विश्वविद्यालय द्वारा सबसे अच्छे शोध के लिए स्टीवेनसन पुरस्कार द्वारा सम्मानित किए गए। भारत और अन्य देशों के कई विश्वविद्यालयों में पढ़ाया है। प्रोफेसर भादुड़ी की पाँच पुस्तकें और प्रतिष्ठित अन्तर्राष्ट्रीय पत्रिकाओं में 70 से भी ज़्यादा शोध लेख प्रकाशित हो चुके हैं।

अँग्रेज़ी से अनुवाद: सुशील जोशी: एकलव्य द्वारा संचालित स्रोत फीचर सेवा से जुड़े हैं। विज्ञान शिक्षण व लेखन में गहरी रुचि।

सभी चित्र: अमोल पखाले: आर्कीटेक्चर से स्नातक करने के बाद आई.आई.टी., मुम्बई के इंडसट्रीयल डिज़ाइन सेंटर से प्रोडक्ट डिज़ाइन में स्नातकोत्तर की पढ़ाई कर रहे हैं। मूलतः भोपाल के निवासी हैं।

यह लेख एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा 4-6 मार्च, 2010 को आयोजित 'नेशनल कॉन्फरेंस ऑन इकॉनॉमिक्स एजूकेशन इन स्कूल्स' में दिए गए विषय प्रवर्तन व्याख्यान का एक भाग है। इसका दूसरा भाग अगले अंक में प्रकाशित किया जाएगा।

यह व्याख्यान हिन्दी और अँग्रेज़ी भाषा में एकलव्य द्वारा पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित किया गया है।

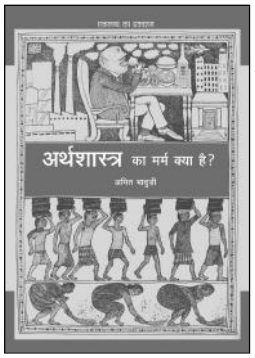

अर्थशास्त्र का मर्म क्या है?

लेखक: अमित भादुड़ी

प्रकाशक: एकलव्य, भोपाल

मूल्य: 25 रुपए

यह पुस्तक हिन्दी एवं इंग्लिश, दोनों भाषाओं में उपलब्ध है।